भारतीय संस्कृति का समन्वित स्वरूप

भारतीय संस्कृति एक संश्लिष्ट संस्कृति है। उसे हम विभिन्न चहारदीवारियों में अवरुद्ध कर कभी भी सम्यक् प्रकार से नहीं समझ सकते हैं, उसको खण्ड-खण्ड करके देखने में उसकी आत्मा ही मर जाती है। जैसे शरीर को खण्ड-खण्ड कर देखने से शरीर की क्रिया-शक्ति को नहीं समझा जा सकता है, वैसे ही भारतीय संस्कृति को खण्ड-खण्ड करके उसकी मूल आत्मा को नहीं समझा जा सकता है। भारतीय संस्कृति को हम तभी सम्पूर्ण रूप से समझ सकते हैं, जब उसके विभिन्न घटकों अर्थात् जैन, बौद्ध और हिन्दू धर्म-दर्शन का समन्वित एवं सम्यक् अध्ययन न कर लिया जाय। बिना उसके संयोजित घटकों के ज्ञान के उसका सम्पूर्णता में ज्ञान सम्भव ही नहीं है। एक इंजन की प्रक्रिया को भी सम्यक् प्रकार से समझने के लिए न केवल उसके विभिन्न घटकों अर्थात् कल-पुर्जों का ज्ञान आवश्यक होता है, अपितु उनके परस्पर संयोजित रूप को भी देखना होता है। अतः हमें स्पष्ट रूप से इस तथ्य को समझ लेना चाहिए कि भारतीय संस्कृति के अध्ययन एवं शोध के क्षेत्र में अन्य सहवर्ती परम्पराओं और उनके पारस्परिक सम्बन्धों के अध्ययन के बिना कोई भी शोध परिपूर्ण नहीं हो सकता है। धर्म और संस्कृति शून्य में विकसित नहीं होते, वे अपने देशकाल और सहवर्ती परम्पराओं से प्रभावित होकर ही अपना स्वरूप ग्रहण करते हैं। यदि हमें जैन, बौद्ध, वैदिक या अन्य किसी भी भारतीय सांस्कृतिक धारा का अध्ययन करना है, उसे सम्यक् प्रकार से समझना है, तो उसके देश, काल एवं परिवेशगत पक्षों को भी प्रामाणिकता पूर्वक तटस्थ बुद्धि से समझना होगा। चाहे जैन विद्या के शोध एवं अध्ययन का प्रश्न हो या अन्य किसी भारतीय विद्या का, हमें उसकी दूसरी सहवर्ती परम्पराओं को अवश्य ही जानना होगा और यह देखना होगा कि वह उन दूसरी सहवर्ती परम्पराओं से किस प्रकार प्रभावित हुई है और उसने उन्हें किस प्रकार प्रभावित किया है। पारस्परिक प्रभावकता के अध्ययन के बिना कोई भी अध्ययन पूर्ण नहीं होता है।

यह सत्य है कि भारतीय संस्कृति के इतिहास के आदिकाल से ही हम उसमें श्रमण और वैदिक संस्कृति का अस्तित्व साथ-साथ पाते हैं; किन्तु हमें यह भी स्मरण रखना होगा कि भारतीय संस्कृति में इन दोनों स्वतन्त्र धाराओं का संगम हो गया है और अब इन्हें एक दूसरे से पूर्णतया अलग नहीं किया जा सकता। भारतीय इतिहास के प्रारम्भिक काल से ही ये दोनों धारायें परस्पर एक दूसरे से प्रभावित होती रहीं। अपनी-अपनी विशेषताओं के आधार पर विचार के क्षेत्र में हम चाहे उन्हें अलग-अलग देख लें, किन्तु व्यावहारिक स्तर पर उन्हें एक दूसरे से पृथक् नहीं कर सकते। भारतीय वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम माना जाता है। उसमें जहाँ एक ओर वैदिक समाज एवं वैदिक क्रिया-काण्डों का उल्लेख है, वहीं दूसरी ओर उसमें न केवल व्रात्यों, श्रमणों एवं अर्हतों की उपस्थिति के उल्लेख उपलब्ध हैं, अपितु ऋषभ, अरिष्टनेमि आदि जो जैन परम्परा में तीर्थंकर के रूप में मान्य हैं, के प्रति समादर भाव भी व्यक्त किया गया है। इससे यह प्रतीत होता है कि ऐतिहासिक युग के प्रारम्भ से ही भारत में ये दोनों संस्कृतियाँ साथ-साथ प्रवाहित होती रही हैं। मोहनजोदड़ो और हड़प्पा के उत्खनन से जिस प्राचीन भारतीय संस्कृति की जानकारी हमें उपलब्ध होती है; उससे सिद्ध होता है कि वैदिक संस्कृति के पूर्व भी भारत में एक उच्च संस्कृति अस्तित्व रखती थी जिसमें ध्यान, साधना आदि पर बल दिया जाता था। उस उत्खनन में ध्यानस्थ योगियों की सीलें आदि मिलना तथा यज्ञशाला आदि का न मिलना यही सिद्ध करता है कि वह संस्कृति तप, योग एवं ध्यान प्रधान व्रात्य संस्कृति का प्रतिनिधित्व करती थी। किन्तु इतना निश्चित है कि आर्यों के आगमन के साथ प्रारम्भ हुए वैदिक युग से दोनों ही धाराएँ साथ-साथ प्रवाहित हो रही हैं और उन्होंने एक दूसरे को पर्याप्त रूप से प्रभावित भी किया है। ऋग्वेद में व्रात्यों के प्रति जो तिरस्कार भाव था, वह अथर्ववेद में समादर भाव में बदल जाता है जो दोनों धाराओं के समन्वय का प्रतीक है। तप, त्याग, संन्यास, ध्यान, समाधि, मुक्ति और अहिंसा की अवधारणायें जो प्रारम्भिक वैदिक ऋचाओं और कर्मकाण्डीय ब्राह्मण ग्रन्थों में अनुपलब्ध थीं, वे आरण्यक आदि परवर्ती वैदिक साहित्य में और विशेष रूप से उपनिषदों में अस्तित्व में आ गयी हैं। इससे लगता है कि ये अवधारणाएँ संन्यासमार्गीय श्रमणधारा के प्रभाव से ही वैदिक धारा में प्रविष्ट हुयी हैं। उपनिषदों, महाभारत और गीता में एक ओर वैदिक कर्मकाण्ड की समालोचना और उन्हें आध्यात्मिकता से समन्वित कर नये रूप में परिभाषित करने का प्रयत्न तथा दूसरी ओर तप, संन्यास और मुक्ति आदि की स्पष्ट रूप से स्वीकृति, यही सिद्ध करती है कि ये ग्रन्थ श्रमण और वैदिक धारा के बीच हुए समन्वय या संगम के ही परिचायक हैं। हमें यह स्मरण रखना होगा कि उपनिषद् और महाभारत जिसका एक अंग गीता है, शुद्ध रूप से वैदिक कर्मकाण्डात्मक धर्म के प्रतिनिधि नहीं हैं। वे निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्तिमार्गी वैदिक धारा के समन्वय का परिणाम हैं। उपनिषदों में और महाभारत, गीता आदि में जहाँ एक ओर श्रमणधारा के आध्यात्मिक और निवृत्ति प्रधान तत्त्वों को स्थान दिया गया, वहीं दूसरी ओर यज्ञ आदि वैदिक कर्मकाण्डों की श्रमण परम्परा के समान आध्यात्मिक दृष्टि से नवीन परिभाषाएँ भी प्रस्तुत की गईं, उनमें यज्ञ का अर्थ पशुबलि न होकर स्वहितों की बलि या समाजसेवा हो गया। हमें यह स्मरण रखना होगा कि हमारा हिन्दू धर्म वैदिक और श्रमण धाराओं के समन्वय का परिणाम है। वैदिक कर्मकाण्ड के विरोध में जो आवाज औपनिषदिक युग के ऋषि-मुनियों ने उठाई थी, जैन, बौद्ध और अन्य श्रमण परम्पराओं ने मात्र उसे मुखर ही किया है। हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि वैदिक कर्मकाण्ड के प्रति यदि किसी ने पहली आवाज उठाई तो वे औपनिषदिक ऋषि ही थे। उन्होंने ही सबसे पहले कहा था कि ये यज्ञरूपी नौकायें अदृढ़ हैं, ये आत्मा के विकास में सक्षम

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

नहीं है। यज्ञ आदि कर्मकाण्डों की नयी आध्यात्मिक व्याख्यायें देने और उन्हें श्रमणधारा की आध्यात्मिक दृष्टि के अनुरूप बनाने का कार्य औपनिषदिक ऋषियों और गीता के प्रवक्ता का है। जैन और बौद्ध परम्परायें तो औपनिषदिक ऋषियों के द्वारा प्रशस्त किये गये पथ पर गतिशील हुयी हैं। वे वैदिक कर्मकाण्ड, जन्मना जातिवाद और मिथ्या विश्वासों के विरोध में उठे हुए औपनिषदिक ऋषियों के स्वर का ही मुखरित रूप हैं। जैन और बौद्ध परम्पराओं में औपनिषदिक ऋषियों की अर्हत् ऋषि के रूप में स्वीकृति इसका स्पष्ट प्रमाण है।

यह सत्य है कि श्रमणों ने यज्ञों में पशुबलि, जन्मना वर्णव्यवस्था और वेदों की प्रामाण्यता से इन्कार किया और इस प्रकार से वे भारतीय संस्कृति के समुद्धारक के रूप में ही सामने आये; किन्तु हमें यह नहीं भूलना चाहिए कि भारतीय संस्कृति की इस विकृति का परिमार्जन करने की प्रक्रिया में वे स्वयं ही कहीं न कहीं उन विकृतियों से प्रभावित हो गये। वैदिक कर्मकाण्ड अब तन्त्रसाधना के नये रूप में बौद्ध, जैन और श्रमण परम्पराओं में प्रविष्ट हो गया और उनकी साधना पद्धति का एक अंग बन गया। आध्यात्मिक विशुद्धि के लिए किया जाने वाला ध्यान अब भौतिक सिद्धियों के निमित्त किया जाने लगा। जहाँ एक ओर भारतीय श्रमण परम्परा ने वैदिक परम्परा को आध्यात्मिक जीवन-दृष्टि के साथ-साथ तप, त्याग, संन्यास और मोक्ष की अवधारणायें प्रदान की वहीं दूसरी ओर वैदिक परम्परा के प्रभाव से तान्त्रिक साधनायें जैन और बौद्ध परम्पराओं में भी प्रविष्ट हो गयीं। अनेक हिन्दू देव-देवियां प्रकारान्तर से जैनधर्म एवं बौद्धधर्म में स्वीकार कर ली गईं। जैनधर्म में यक्ष-यक्षियों एवं शासनदेवता की अवधारणाएँ हिन्दू देवताओं का जैनीकरण मात्र हैं। अनेक हिन्दू देवियां जैसे- काली, महाकाली, ज्वालामालिनी, अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती, सिद्धायिका तीर्थंकरों की शासन रक्षक देवियों के रूप में जैनधर्म में स्वीकार कर ली गयीं। श्रुत-देवता के रूप में सरस्वती और सम्पत्ति प्रदाता के रूप में लक्ष्मी की उपासना जैन जीवन पद्धति का अंग बन गई। हिन्दू परम्परा का गणेश पार्श्व-यक्ष के रूप में लोकमंगल का देवता बन गया। वैदिक परम्परा के प्रभाव से जैन मन्दिरों में भी अब यज्ञ होने लगे और पूजा में हिन्दू देवताओं की तरह तीर्थंकरों का भी आवाहन एवं विसर्जन किया जाने लगा। हिन्दुओं की पूजाविधि को भी मन्त्रों में कुछ शाब्दिक परिवर्तनों के साथ जैनों ने स्वीकार कर लिया। इस प्रकार जैन और बौद्ध परम्पराओं में तप, ध्यान और समाधि की साधना गौण होकर कर्मकाण्ड प्रमुख हो गया। इस पारस्परिक प्रभाव का एक परिणाम यह भी हुआ कि जहां हिन्दू परम्पराओं में ऋषभ और बुद्ध को ईश्वर के अवतार के रूप में स्वीकार कर लिया गया, वहीं जैन परम्परा में राम और कृष्ण को शलाका पुरुष के रूप में मान्यता मिली। इस प्रकार दोनों धारायें एक दूसरे से समन्वित हुयीं।

दुर्भाग्य से इस देश में विदेशी तत्त्वों के द्वारा न केवल हिन्दू और मुसलमानों के बीच अपितु जैन, बौद्ध, हिन्दू और सिक्खों - जो कि बृहद् हिन्दू परम्परा के ही अंग हैं, के बीच भी खाईयां खोदने का कार्य किया जाता रहा है और सामान्य रूप से यह प्रसारित किया जाता रहा है कि जैन और बौद्ध धर्म न केवल स्वतन्त्र धर्म हैं, अपितु वे वैदिक हिन्दू परम्परा के विरोधी भी हैं। सामान्यतया जैन और बौद्ध धर्म को वैदिक धर्म के प्रति एक विद्रोह के रूप में चित्रित किया जाता रहा है। यह सत्य है कि वैदिक और श्रमण परम्परओं में कुछ मूल-भूत प्रश्नों को लेकर मतभेद है, यह भी सत्य है कि जैन और बौद्ध परम्परा ने वैदिक परम्परा की उन विकृतियों को जो कर्मकाण्ड, पुरोहितवाद, जातिवाद और ब्राह्मण वर्ग के द्वारा निम्न वर्गों के धार्मिक शोषण के रूप में उभर रही थीं, खुलकर विरोध किया था, किन्तु हमें उसे विद्रोह के रूप में नहीं, अपितु भारतीय संस्कृति के परिष्कार के रूप में समझना होगा। जैन और बौद्ध धर्मों ने भारतीय संस्कृति में आ रही विकृतियों का परिशोधन कर उसे स्वस्थ बनाने हेतु एक चिकित्सक का कार्य किया और चिकित्सक कभी शत्रु नहीं, मित्र ही होता है। दुर्भाग्य से पाश्चात्य चिंतकों के प्रभाव से भारतीय चिन्तक और किसी सीमा तक कुछ जैन एवं बौद्ध चिन्तक भी यह मानने लगे हैं कि जैन धर्म और वैदिक (हिन्दू) धर्म परस्पर विरोधी हैं किन्तु यह एक भ्रांत अवधारणा है। चाहे अपने मूल रूप में वैदिक एवं श्रमण संस्कृति-प्रवर्तक और निवर्तक धर्म परम्पराओं के रूप में भिन्न-भिन्न रही हों किन्तु आज न तो हिन्दू परम्परा ही उस अर्थ में पूर्णत: वैदिक है और न ही जैन व बौद्ध परम्परा पूर्णत: श्रमण। आज चाहे हिन्दू धर्म हो अथवा जैन और बौद्ध धर्म हों, ये सभी अपने वर्तमान स्वरूप में वैदिक और श्रमण संस्कृति के समन्वित रूप हैं। यह अलग बात है कि उनमें प्रवृत्ति और निवृत्ति में से कोई एक पक्ष अभी भी प्रमुख हो, उदारहण के रूप में हम कह सकते हैं कि जहां जैन धर्म आज भी निवृत्ति प्रधान है वहां हिन्दू धर्म प्रवृत्ति प्रधान, फिर भी यह मानना उचित नहीं है कि जैन धर्म में प्रवृत्ति एवं हिन्दू धर्म में निवृत्ति के तत्त्व नहीं हैं। वस्तुत: सम्पूर्ण भारतीय संस्कृति प्रवृत्ति और निवृत्ति के समन्वय में ही निर्मित हुई है। इस समन्वय का प्रथम प्रयत्न हमें ईशावास्योपनिषद् में स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होता है। आज जहाँ उपनिषदों को प्राचीन श्रमण परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है, वहीं जैन-बौद्ध परम्परा को भी औपनिषदिक परम्परा के परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है। जिस प्रकार वासना और विवेक, श्रेय और प्रेय परस्पर भिन्न-भिन्न होकर भी मानव व्यक्तित्व के ही अंग हैं, उसी प्रकार निवृत्ति प्रधान श्रमणधारा और प्रवृत्ति प्रधान वैदिक धारा दोनों भारतीय संस्कृति के ही अंग हैं। वस्तुत: कोई भी संस्कृति एकान्त निवृत्ति या एकान्त प्रवृत्ति के आधार पर प्रतिष्ठित नहीं हो सकती है। जैन और बौद्ध परम्परायें भारतीय संस्कृति का वैसे ही अभिन्न अंग हैं, जैसे हिन्दू परम्परा। यदि औपनिषदिक धारा को वैदिक धारा से भिन्न होते हुए भी वैदिक या हिन्दू परम्परा का अभिन्न अंग माना जाता है, तो फिर जैन और बौद्ध परम्पराओं को उसका अभिन्न अंग क्यों नहीं माना जा सकता। यदि सांख्य और मीमांसक अनीश्वरवादी होते हुए भी आस्तिक हिन्दू-धर्म दर्शन के अंग माने जाते हैं, तो फिर जैन व बौद्ध धर्म को अनीश्वरवादी कहकर उससे कैसे भिन्न किया जा सकता है ? हिन्दू धर्म और दर्शन एक व्यापक परम्परा है या कहें कि वह विभिन्न विचार परम्पराओं का समूह है; उसमें ईश्वरवाद, अनीश्वरवाद, द्वैतवाद-अद्वैतवाद,

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org

प्रवृत्ति-निवृत्ति, ज्ञान-कर्म सभी कुछ तो समाहित है । उसमें प्रकृति पूजा जैसे धर्म के प्रारम्भिक लक्षणों से लेकर अद्वैत की उच्च गहराइयाँ तक सभी कुछ सन्निविष्ट है ।

अत: जैन और बौद्ध धर्म को हिन्दू परम्परा से भिन्न नहीं माना जा सकता । जैन व बौद्ध भी उसी अध्यात्म-पथ के अनुयायी है जिसका प्रवर्तन औपनिषदिक ऋषियों ने किया था । उनकी विशेषता यह है कि उन्होंने भारतीय समाज के दलित वर्ग के उत्थान तथा जन्मजातिवाद, कर्मकाण्ड व पुरोहितवाद से मुक्ति का मार्ग प्रशस्त किया । उन्होंनें उस धर्म का प्रतिपादन किया जो जनसामान्य का धर्म था और जिसे कर्मकाण्डों की अपेक्षा नैतिक सद्गुणों पर अधिष्ठित किया गया था । चाहे उन्होंने भारतीय समाज को पुरोहित वर्ग के धार्मिक शोषण से मुक्त किया हो, फिर भी वे विदेशी नहीं हैं, इस माटी की संतान हैं, वे शत-प्रतिशत भारतीय हैं । उनकी भूमिका एक शल्य-चिकित्सक की भूमिका है जो मित्र की भूमिका है, शत्रु की नहीं । जैन और बौद्ध धर्म औपनिषदिक धारा का ही एक विकास हैं और आज उन्हें उसी परिप्रेक्ष्य में समझने की आवश्यकता है ।

भारतीय धर्मों विशेषरूप से औपनिषदिक, बौद्ध और जैन धर्मों की जिस पारस्परिक प्रभावशीलता के अध्ययन की आज विशेष आवश्यकता है, उसे समझने में प्राचीन स्तर के जैन आगम यथा-आचारांग, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और उत्तराध्ययन आदि हमारे दिशा-निर्देशक सिद्ध हो सकते हैं । मुझे विश्वास है कि इन ग्रन्थों के अध्ययन से भारतीय विद्या के अध्येताओं को एक नई दिशा मिलेगी और यह मिथ्या विश्वास दूर हो जायेगा कि जैन धर्म, बौद्ध धर्म और हिन्दू धर्म परस्पर विरोधी धर्म हैं । आचारांग में हमें ऐसे अनेक सूत्र उपलब्ध होते हैं जो अपने भाव, शब्दयोजना और भाषाशैली की दृष्टि से औपनिषदिक सूत्रों के निकट हैं । आचारांग में आत्मा के स्वरूप के सन्दर्भ में जो विवरण प्रस्तुत किया गया है वह माण्डूक्योपनिषद् से यथावत् मिलता है । आचारांग में श्रमण और ब्राह्मण का उल्लेख परस्पर प्रतिस्पर्धियों के रूप में नहीं, अपितु सहगामियों के रूप में ही मिलता है । चाहे आचारांग, उत्तराध्ययन आदि जैनागम हिंसक यज्ञीय कर्मकाण्ड का निषेध करते हैं किन्तु वे ब्राह्मणों को भी उसी नैतिक एवं आध्यात्मिक पथ का अनुगामी मानते हैं जिस पथ पर श्रमण चल रहे थे । उनकी दृष्टि में ब्राह्मण वह है जो सदाचार का जीवन्त प्रतीक है । उसमें अनेक स्थलों पर श्रमणों और ब्राह्मणों (समणा-माहणा) का साथ-साथ उल्लेख हुआ है ।

इसी प्रकार सूत्रकृतांग में यद्यपि तत्कालीन दार्शनिक मान्यताओं की समीक्षा है किन्तु उसके साथ ही उसमें औपनिषदिक युग के अनेक ऋषियों यथा-विदेहनमि, बाहुक, असितदेवल, द्वैपायन, पाराशर आदि का समादर पूर्वक उल्लेख हुआ है । सूत्रकृतांग स्पष्ट रूप से यह स्वीकार करता है कि यद्यपि इन ऋषियों के आचार-नियम उसकी आचार परम्परा से भिन्न थे, फिर भी वह उन्हें अपनी अर्हत् परम्परा का ही पूज्य पुरुष मानता है । वह उन्हें महापुरुष और तपोधना के रूप में उल्लेखित करता है और यह मानता है कि उन्होंने सिद्धि अर्थात् जीवन के चरम साध्य मोक्ष को प्राप्त कर लिया था । सूत्रकृतांगकार की दृष्टि में ये ऋषिगण भिन्न आचारमार्ग का पालन करते हुए भी उसकी अपनी ही परम्परा के ऋषि थे । सूत्रकृतांग में इन ऋषियों को सिद्धि प्राप्त कहना तथा उत्तराध्ययन में अन्य लिंग सिद्धों का अस्तित्व मानना यही सूचित करता है कि प्राचीन काल में जैन परम्परा अत्यन्त उदार थी और वह मानती थी कि मुक्ति का अधिकार केवल उसके आचार नियमों का पालन करने वाले को ही नहीं है, अपितु भिन्न आचार मार्ग का पालन करने वाला भी मुक्ति का अधिकारी हो सकता है ।

इसी संदर्भ में यहाँ ऋषिभाषित (इसिभासियाइं) का उल्लेख करना भी आवश्यक है जो जैन आगम साहित्य का प्राचीनतम ग्रन्थ (ई. पू. चौथी शती) है । जैन परम्परा में इस ग्रन्थ का निर्माण उस समय हुआ होगा जब जैन धर्म एक सम्प्रदाय के रूप में विकसित नहीं हुआ था । इस ग्रन्थ में नारद, असितदेवल, अंगीरस, पाराशर, अरुण, नारायण, याज्ञवल्क्य, उद्दालक, विदुर, सारिपुत्त, महाकश्यप, मंखलिगोसाल, संजय (वेलट्ठिपुत्त) आदि पैंतालिस ऋषियों का उल्लेख है और इन सभी को अर्हतऋषि, बुद्ध-ऋषि एवं ब्राह्मणऋषि कहा गया है । ऋषिभाषित में इनके आध्यात्मिक और नैतिक उपदेशों का संकलन है । जैन परम्परा में इस ग्रन्थ की रचना इस तथ्य का स्पष्ट संकेत है कि औपनिषदिक ऋषियों की परम्परा और जैन परम्परा का उद्गम स्रोत एक ही है । यह ग्रन्थ न केवल जैन धर्म की धार्मिक उदारता का सूचक है, अपितु यह भी बताता है कि सभी भारतीय आध्यात्मिक परम्पराओं का मूल स्रोत एक ही है । औपनिषदिक, बौद्ध, जैन, आजीवक, सांख्य, योग आदि सभी उसी मूल स्रोत से निकली हुई धारायें हैं । जिस प्रकार जैन धर्म में ऋषिभाषित में विभिन्न परम्पराओं के उपदेश संकलित हैं उसी प्रकार बौद्ध परम्परा की थेरगाथा में भी विभिन्न परम्पराओं के जिन-स्थविरों के उपदेश संकलित हैं, उनमें भी अनेक औपनिषदिक एवं अन्य श्रमण परम्परा के आचार्यों के उल्लेख हैं जिनमें एक वर्धमान (महावीर) भी है । यह सब इस तथ्य का सूचक है कि भारतीय परम्परा प्राचीनकाल से ही उदार और सहिष्णु रही है और उसकी प्रत्येक धारा में यही उदारता और सहिष्णुता प्रवाहित होती रही है । आज जब हम साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से जकड़ कर परस्पर संघर्षों में उलझ गये हैं इन ग्रन्थों का अध्ययन हमें एक नई दृष्टि प्रदान कर सकता है । यदि भारतीय सांस्कृतिक चिंतन की इन धाराओं को एक दूसरे से अलग कर देखने का प्रयत्न किया जायेगा तो हम उन्हें सम्यक् रूप से समझने में सफल नहीं हो सकेंगे । उत्तराध्ययन, सूत्रकृतांग, ऋषिभाषित और आचारांग को समझने के लिए औपनिषदिक साहित्य का अध्ययन आवश्यक है । इसी प्रकार उपनिषदों और बौद्ध साहित्य को भी जैन परम्परा के अध्ययन के अभाव में सम्यक् प्रकार से नहीं समझा जा सकता है । आज साम्प्रदायिक अभिनिवेशों से ऊपर उठकर तटस्थ एवं तुलनात्मक रूप से सत्य का अन्वेषण ही एक ऐसा विकल्प है जो साम्प्रदायिक अभिनिवेश से ग्रस्त मानव को मुक्ति दिला सकता है ।

●

Jain Education International For Private & Personal Use Only www.jainelibrary.org